International Journal of Social Nexus Review
Volume 1 | Issue 1 | July 2026
Available online at: https://socialnexusreview.com/

दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त दलितों का जीवन-संघर्ष

डॉ. नंदराम
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, का. सु. साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय,अयोध्या।
Email - ramnand.fzd@gmail.com

Received: 15 June 2026 | **Accepted:** 15 July 2026 | **Published:** 25 July 2026

सारांश-

दलित आत्मकथाएं दलितों के जीवन संघर्ष का जीवंत दस्तावेज हैं। हिंदी दलित साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विधाओं की तुलना में आत्मकथाओं को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। दलित आत्मकथाओं में दलितों द्वारा 'भोगा हुआ यथार्थ ' अत्यंत मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त होता है। इसमें दलितों के दमन, वंचन, उत्पीड़न, त्रासदी आदि का जीवंत चित्रण प्राप्त होता है। डॉ. श्योराज सिंह बेचैन ने लिखा है- "दलित आत्मकथाओं में दलित छवि एक सचेतन आत्म-संघर्षरत स्वाभिमानी व्यक्ति की छवि के रूप में उभरकर सामने आई है। दलित आत्म कथाकार अतीत की भद्दी तस्वीरें देखते हैं । साथ-साथ उन हाथों को भी पकड़ते हैं जिन्होंने कई सौंदर्य से भरी जीवन-झांकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है। इतिहास विहीन समाज में ये आत्मकथाएं सूचनाओं, तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं जिनके बगैर हिंदी समाज का अध्ययन अधूरा है। "[1]

दलित आत्मकथाएं मानवीय समता, सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता, समरसता तथा सामुदायिक बंधुता की भावना को प्रेरित करते हुए सामाजिक यथार्थ को सजीवता एवं संजीदगी के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है। दलित आत्मकथा लेखन की परंपरा का प्रारंभ स्वतंत्रता के उपरांत सबसे पहले मराठी भाषा में हुआ। हिंदी भाषा में दलित आत्मकथा लेखन की शुरुआत नब्बे के दशक से हुई। दलित आत्मकथाओं में मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' (तीन-भाग), ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन ' (दो-भाग), भगवान दास की 'मैं भंगी हूं ' , डॉ. डी .आर. जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल', पूर्व राज्यपाल माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', रूप नारायण सोनकर की 'नागफनी', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', श्योराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' के साथ-साथ सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' और 'संतप्त' आदि विशिष्ट हैं। इन आत्मकथाओं की आत्माभिव्यक्ति में इन लेखकों का कौशल कुछ अलग-सा है, किंतु संवेदनात्मक लगाव एक-सा है, इनका घर, बस्तियां, स्कूल-कॉलेज, समाज, सवर्णों से संघर्ष, स्त्रियों का शोषण, जातिगत उत्पीड़न, आर्थिक संकट और उनके समूचे मानवीय अस्तित्व पर उठे गंभीर प्रश्न उनकी चिंता एवं चिंतन के विषय रहे हैं। यही वजह है कि करुणा, सहानुभूति की संवेदनशीलता उन्हें पढ़ते समय प्रत्येक पाठक में अपने आप सहज निर्मित होती है । गुलामी की जंजीरों को तोड़ने का उपक्रम ही उनके साहित्य सृजन का मूल उद्देश्य है, किंतु यह सुखद नहीं बेहद दुखद यात्रा है।

बीज शब्द- दलित, दलित-जीवन, दलित जीवन-संघर्ष, सामाजिक भेदभाव, छुआछूत, उत्पीडन

विषय प्रवेश:

प्रसिद्ध दलित लेखक एवं पत्रकार मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' भाग- एक, सन् 1995 में प्रकाशित हुई। इसे हिंदी की पहली दलित आत्मकथा होने का गौरव प्राप्त है। इसके माध्यम से नैमिशराय जी ने उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में चमारों की स्थिति और उनके त्रासदीपूर्ण जीवन का चित्रांकन किया है। मोहनदास नैमिशराय का परिवार उनकी बस्ती के अन्य परिवारों की अपेक्षा संपन्न था, किंतु कथित छोटी जाति के होने के कारण उनको और उनके परिवार को अपमान का दंश झेलना पड़ता था। बचपन से ही नैमिशराय जी की ने निजी तौर पर अपमानित जीवन को जिया है । जिस चमार बस्ती में लेखक का

This is an open access article under the Creative Commons Attribution-Non-Commercial 4.0 International License.
© The Author(s) 2026. IJSNR Published by Shri Ram Niyamat Charitable Trust.

बचपन बीता वहीं पर मुसलमानों की बस्ती भी थी । लेखक ने जो उत्पीड़न झेला उसमें सवर्ण हिंदू एवं मुसलमानों दोनों के द्वारा किए गए अत्याचार शामिल हैं। अपने दर्द को व्यक्त करते हुए नैमिशराय ने लिखा है- "हमारे मुसलमान पड़ोसी भी अधिकांश मजदूरी पेशा करते थे। पर उनके तेवर पठानों से कम न थे। बोलने का लहजा उसी मानसिकता से प्रभावित था। बात-बात पर वे हमें चमट्टे कहते थे और औरतों को चमट्टी। वे एक-दूसरे से बातें करते तो पुकारते, अरे! वो है न चमट्टा, अरी ओ! चमारी, अबे! क्या है चमार के।"[2]

'अपने-अपने पिंजरे' में नैमिशराय जी ने दलित स्त्रियों की दयनीय दशा का भी मार्मिक चित्र खींचा है। चमार बस्ती की कुछ औरतें जंगल जाकर घास और जलावन की सूखी लकड़ी लाती थी या खेतों में मेहनत-मजदूरी करती थीं । कुछ महिलाएं कोल्ड-स्टोरेज में जाकर आलू-प्याज की छंटाई का काम भी करती थीं । खेत और कोल्ड स्टोर दोनों ही शहर और बस्तियों से अक्सर दूर ही हुआ करते थे। अपने घर से काफी दूर जाकर कड़ी मेहनत करने पर भी औरतों को पूरे दिन का एक रुपया प्रतिदिन की दर से ही मजदूरी मिलती थी। इस मजदूरी से किसी तरह वे अपने परिवार का भरण-पोषण करती थीं । अनेक अवसरों पर मजदूरी करने वाली महिलाओं को शारीरिक और आर्थिक शोषण का शिकार भी होना पड़ता था। तत्कालीन समाज में दलित स्त्रियों की यह दुर्दशा मन को विचलित करने वाली थी। जिस समाज की महिलाओं की इतनी दयनीय दशा हो उसका विकास भला कैसे संभव हो सकता है? इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए डॉ. भीमराव आंबेडकर किसी समाज की प्रगति का मूल्यांकन उस समाज की महिलाओं की स्थिति से करते थे।

मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' के संदर्भ में ललिता कौशल ने लिखा है - "मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' समस्त दलित समाज के जख्मों और उनके दर्द की व्यथा-कथा है। भारतीय समाज में व्याप्त जाति-भेद, शिक्षा का अभाव, घिनौनी परंपराएं आदि समस्याओं को लेखक ने समाज के सामने लाने में अहम भूमिका निभाई है। लेखक का एक ऐसे समाज को स्थापित करने का सपना है जिसमें सभी वर्गों व व्यक्तियों को विकास के समान अवसर उपलब्ध हों।"[3]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' के प्रथम भाग का प्रकाशन सन् 1997 में तथा दूसरे भाग का प्रकाशन सन् 2015 में हुआ। 'जूठन' ओमप्रकाश वाल्मीकि के जीवन में शोषण, वंचन, उत्पीड़न, दमन की अभिव्यक्ति के साथ ही तत्कालीन भारत में दलितों की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दुर्दशा का मार्मिक अंकन है। यह आत्मकथा भारतीय जाति-प्रथा की भयावहता, दलितों के प्रति सवर्ण मानसिकता के साथ ही शोषण एवं वचन के समकालीन सभी हथकंडों को उजागर करती है। 'जूठन' जाति को आधार बनाकर किए जाने वाले उत्पीड़न और अतिदलित समाज के संघर्ष का ब्यौरा प्रस्तुत करती है।

'जूठन' में लेखक ने अपने जीवन की घटनाओं के माध्यम से दलित समुदाय के सामाजिक स्तर, जातीय अपमान, शोषण, वंचन, उपेक्षा आदि को अभिव्यक्ति प्रदान की है, साथ ही अमानवीय सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति विरोध का स्वर भी मुखरित किया है। लेखक ने समाज द्वारा दिए गये जातीय दंश के कारण मानसिक पीड़ा के हृदयविदारक अनुभव को महसूस किया है। जातीय अपमान, तिरस्कार, उत्पीड़न आदि को बेहद नजदीक से देखा, समझा और उसे भोगा है । लेखक द्वारा व्यक्त जीवन के कष्टपूर्ण अनुभव केवल उसी के ही नहीं हैं, बल्कि उसमें तत्कालीन संपूर्ण दलित समुदाय की जीवन्त अभिव्यक्ति हुई है। इसमें दलित जीवन की त्रासद सच्चाई को प्रकट किया गया है। अपने मोहल्ले का जिक्र करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं - "अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इंसानी दर्जा नहीं था । वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे, काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो, दूर फेंको।"[4] अर्थात् दलितों के जीवन में सामाजिक दुर्व्यवस्थाएं अपने चरम पर थीं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्म स्वीकृति में सत्यता है। तत्कालीन भारतीय समाज में सबसे पवित्र और उत्कृष्ट प्रतीक माने जाने वाले स्कूल-कॉलेज, विश्वविद्यालय तथा उसके अधिकांश शिक्षकों का व्यवहार भी दलितों के प्रति संवेदनशील एवं सहानुभूतिपरक न होकर दुर्भावनापूर्ण था । स्वतंत्रता के बाद संविधान में की गई व्यवस्थाओं के बावजूद समाज का उच्च वर्ग दलितों एवं बहुजनों को शिक्षा प्रदान करने हेतु सचेत रूप से सहयोग करने के पक्ष में नहीं था। इसीलिए काफी खुशामद और मशक्कत के बाद स्कूल में प्रवेश हो जाने के उपरांत विद्यालय के अधिकांश पदों पर आसीन सवर्ण समाज के कर्मचारी एवं शिक्षक दलित

विद्यार्थियों पर तरह-तरह के उत्पीड़नकारी तरीकों को अपनाकर उनका मानसिक एवं शारीरिक शोषण करते थे। ताकि वे अपने पर किये गये अत्याचारों से तंग आकर स्कूल छोड़ने को विवश हो जाएं।

विद्यालयी जीवन में स्कूल के प्रधानाध्यापक द्वारा किये गये उत्पीड़न की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं - "तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, "अबे! वो चूहड़े के, मादरचोद कहां घुस गया.... अपनी मां....."उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर-थर कांपने लगा था । एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा- "मास्साहब, वो बैट्ठा है कोणे में।" हेड मास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर लाकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले- "जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू.... नहीं तो गांड़ में मिर्ची डाल के स्कूल के बाहर काढ़ दूंगा।"[5] तत्कालीन समाज में दलितों का शैक्षिक जीवन अनेकों विसंगतियों, शोषण एवं उत्पीड़न से त्रस्त था।

तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' का प्रकाशन 1 जनवरी, 2010 को हुआ। बेहद संवेदनशील मन के साथ लिखी गई यह आत्मकथा एक ओर तो दलितों के जीवन की व्यापक सामाजिक-आर्थिक अव्यवस्था को बहुत मार्मिक ढंग से सामने रखती है, तो दूसरी ओर यह सामाजिक ताने-बाने के भीतर उस 'स्पेस' को भी खोलती है जिसमें एक प्रतिभाशाली दलित के लिए विभेद की संरचना को थोड़ा लचीला बनाते हुए आर्थिक और सामाजिक प्रोत्साहन का वातावरण अपने-आप ही सामने आ जाता था। शिक्षा, स्वास्थ्य और जीवनयापन की बुनियादी सुविधाओं से वंचित एक बड़ा सामाजिक वर्ग किस तरह घिसट-घिसट कर आगे बढ़ रहा था इसके स्तब्ध कर देने वाले ब्यौरे 'मुर्दहिया' में मिलते हैं।

'मुर्दहिया' को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अवलोकित करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह तत्कालीन समाज में चल रहे सामाजिक ताने-बाने का बारीकी से अध्ययन प्रस्तुत करती है। इस संदर्भ में मणीन्द्र नाथ ठाकुर द्वारा अपने लेख 'समाजशास्त्र के स्वरूप पर बहस और मुर्दहिया' में प्रकट विचार उल्लेखनीय हैं - "इस आत्मकथा की पहली खासियत तो यह है कि यह एक व्यक्ति के अनुभवों के माध्यम से पूरे दलित समाज की कहानी है। यह एक तरह से एथनोग्राफिक उपागम से दलित समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन है। जिस अध्ययन में भोगे हुए यथार्थ का निरपेक्ष अध्ययन भी है और उससे उत्पन्न भावनाओं का उद्गार भी।"[6]

'मुर्दहिया' दलित समाज के त्रासद जीवन की महाकाव्यात्मक अभिव्यक्ति है। यह भारतीय समाज में दलितों के प्रति व्याप्त सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विसंगतियों का रोजनामचा है। यह आत्मकथा सामाजिक, सांस्कृतिक परंपराओं के साथ इतिहास और राजनीति के उन परतों को उघाड़ती है, जो अभी तक अकथित और अनछुए थे जहां न तो साहित्य ही अच्छे से पहुंच पाया था और न ही कोई समाजशास्त्रीय अध्ययन की पद्धति। इस अर्थ में मुर्दहिया साहित्य इतिहास और समाजशास्त्र के उस अधूरेपन एवं एकांगीपन को संवर्धित कर भरने का प्रयास करती है , जो लंबे समय से खालीपन का दर्द झेल रहा था। बालमन एवं बाल शोषण का जो दर्द मुर्दहिया में दिखाया गया है, उसकी चीख संपूर्ण आत्मकथा में सुनाई देती है। अन्य दलित आत्मकथाओं की तरह इसमें भी बाल सुलभ मनोदशाओं का मार्मिक अंकन मिलता है। एक आंख के न होने के कारण लेखक को अपने परिवार में भी अपशकुन का पर्याय बनकर कदम-कदम पर अपमान और घृणा का शिकार होना पड़ता था। उनको घर के बाहर भी जाति आधारित गाली और अपमान को सहन करने हेतु मजबूर होना पड़ता था। घर में 'कनवा' और बाहर 'चमरा' की गाली बाल-मनोविज्ञान एवं बाल-शोषण का ऐसा पहलू है, जिसे किसी भी भाषा साहित्य में ढूंढना कठिन है। लेखक का विद्यालयी परिवेश भी छुआ-छूत, अपमान और घृणा से परिपूर्ण था। उसका अंकन करते हुए तुलसीराम लिखते हैं - "मिशिर शोर मचाते हुए मुंशी जी के पास दौड़े और चिल्लाते रहे कि चमरा ने कुआं छू लिया। मैं बहुत डर गया था। उस दिन मुंशी जी रुक-रुक कर गालियां देते रहे। इसके बाद कभी पानी पिलाने के लिए कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाया।"[7] अर्थात दलितों का विद्यालयी परिवेश अत्यंत कठोर एवं कई विसंगतियों से युक्त था।

तुलसीराम की आत्मकथा का द्वितीय-भाग 'मणिकर्णिका' शीर्षक से सन 2014 में प्रकाशित हुआ। इसमें मुर्दहिया के आगे का जीवन चित्रित किया गया है। आत्मकथा के इस दूसरे भाग में दिखाया गया है, जब तुलसीराम उच्च शिक्षा प्राप्त करने की लालसा पूर्ण करने के लिए घर से भाग कर बनारस पहुंचे थे। लेखक ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में अपने अध्ययन के दौरान शहर

में व्याप्त सामाजिक बुराइयों को बेहद करीब से देखा, जोकि सामाजिक यथार्थ के दर्शन कराती हैं। बनारस में रहते हुए तुलसीराम को निवास हेतु किराए के कमरे के लिए भी दर-दर भटकना पड़ता था । शहरों में भी जातिवादी छुआछूत का भेदभाव दलितों का पीछा नहीं छोड़ता था । मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में - "भारत के दलितों को शहरों में भी जाति-दंश का सामना करना पड़ता है। उन्हें किराए पर कोई कमरा नहीं देता और अगर जैसे-तैसे कमरा मिल भी जाए तो यह जानने के बाद कि किराएदार दलित है तो उसे सामान समेत कमरे से बाहर कर दिया जाता है।"[8] तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा 'मणिकर्णिका' में लिखा है कि - "बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में उन्हें कदम-कदम पर जातिगत भेदभाव का सामना करना पड़ा । यहां तक की विश्वविद्यालय के फार्म पर भी साफ-साफ लिखा रहता था कि "आर यू ब्राह्मण आर नान ब्राह्मण?" अर्थात आप ब्राह्मण है या गैर ब्राह्मण?"[9] तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था में दलित एवं वंचित वर्गों के लिए जातिगत भेदभाव अपने चरम पर था।

दलितों की पीड़ा की अभिव्यक्ति तथा उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना के संदर्भ में सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' का विशेष योगदान है। यह सूरजपाल चौहान के बचपन से लेकर जवानी के लगभग 40-42 वर्षों की जीवन- कथा है। 'तिरस्कृत' से पूर्व हिंदी में जो दलित आत्मकथाएं प्रकाशित हुईं उनकी विषय वस्तु में सूरजपाल ने कुछ नया जोड़ा है और तारतम्यता वाली उनकी जो लेखन पद्धति है, उसे भी कुछ हद तक तोड़ा है। इस प्रकार 'तिरस्कृत' पहले से चली आ रही दलित आत्मकथा लेखन की परंपरा को समृद्ध तो करती ही है, साथ ही यह पहले से भी अधिक गंभीर दायित्व के एहसास और निर्भीकता के साथ उसे कुछ नवीन तरीकों से आगे बढ़ने का प्रयास भी करती है।

सूरजपाल चौहान ने अपनी आत्मकथा 'तिरस्कृत' का ताना-बाना गांव और शहर दोनों को मिलाकर बुना है। दोनों में इन्होंने कोई बनावटी विभेद स्वीकार नहीं किया है। गांव के केंद्र में सामान्य रूप से शहर तथा शहर के केंद्र में सहज रूप से गांव के निजी जीवन के अनुभव संतुलन के साथ व्यक्त हैं। दत्तात्रेय मुरुमकर ने लिखा है - "सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' को हम चार हिस्से में बांटकर देख सकते हैं: पहले भाग में बचपन की जातीयता के दंश से अपमानित करुणार्द्र कथा है, दूसरे भाग में नौकरी-पेशा दलितों की समस्याओं से भरा दलितत्व तथा ब्राह्मणत्व किस प्रकार इन्हें डंक मारता है, तीसरे भाग में लेखक का स्वयं का टूटता-बिखरता घर-परिवार, छत-विक्षत होती मानसिकता और चौथे भाग में देशभर में व्याप्त मनुवादी मानसिकता से जार-जार होती मनुष्यता की कथा तल्ख तेवर में (निराला के शब्दों में कहें तो) गुरु गंभीर चलता हथौड़ा की भूमिका को आत्मकथाकार अपनाता दिखाई देता है।"[10]

सिद्ध दलित लेखिका कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में दलित महिलाओं के दर्द को विस्तार से अंकित किया गया है। दलित घरों की महिलाओं को दोहरी पीड़ा झेलनी पड़ती है: पहली दलित होने की तथा दूसरी महिला होने की । इसी दोहरे दर्द की मार्मिक अभिव्यक्ति 'दोहरा अभिशाप' में लेखिका ने अपने द्वारा भोगी गई पीड़ा के माध्यम से किया है। सन् 1999 में प्रकाशित 'दोहरा अभिशाप' दलित सामाजिक व्यवस्था में महिला जीवन के तमाम संघर्षों का कच्चा-चिट्ठा खोलती है। यह आत्मकथा अन्य आत्मकथाओं की तरह भयानक पीड़ा, घृणा और जुगुप्सा के भावों का ही संचालन नहीं करती बल्कि लेखिका के संघर्षों को व उनके माता-पिता के संघर्षों से युक्त जीवन का भी मार्मिक अंकन करती है।

समाज में स्त्री का दर्जा अभी भी चिंताजनक स्थिति में है, चाहे वह दलित हो या फिर सवर्ण स्त्री । इसके बावजूद भी दलित महिलाओं को तीन तरह से शोषण का शिकार होना पड़ता है। पहला दलित होने के कारण शोषण, दूसरा दिन-रात मजदूरी करना तथा स्त्री होने के कारण सवर्ण पुरुषों के साथ-साथ पति के शोषण को भी सहना पड़ता है। जय कुमार पासवान 'दोहरा अभिशाप' के संबंध में लिखते हैं - "दलित स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त संदर्भ, परिवेश, समस्या और संघर्ष का स्वरूप मुख्य रूप से उजागर हुआ है। दलित स्त्री का जीवन में शिक्षित होने के लिए संघर्ष, जातिगत पहचान की वजह से प्रगति के हर कदम पर आने वाली कठिनाइयों से जूझना, आर्थिक सबलता के लिए कठिन प्रयास, भूख से लड़ाई, स्त्री होने के कारण घर और बाहर होने वाली अवहेलना, अपमान और शोषण की तिहरी मार झेलने पड़ते हैं, लेखिका ने अपनी आत्मकथा में इन प्रसंगों, घटनाओं, संघर्षों का चित्रण प्रमुखता से किया है।"[11]

दलित लेखिका सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' स्त्री पीड़ा की अभिव्यक्ति का जीवंत दस्तावेज है। इसमें दलित महिलाओं के शोषण के विरोध में किये गए संघर्ष का अंकन है। जिस प्रकार से जंगल में शिकारी के द्वारा कसे गए शिकंजे में

जब कोई जानवर फंस जाता है और उससे मुक्त होने के लिए उसकी दर्दनाक चीखें बाहर निकलती हैं, किंतु वह जितना तड़पता है, शिकंजे की पकड़ व दर्द उतना ही बढ़ता जाता है, ठीक उसी प्रकार दलितों में भी दलित नारी मनुवादी समाज, दलित समाज, मनुवादी मनोवृति वाले पुरुष प्रधान समाज के शिकंजे में वह कई वर्षों से फंसी भीतर से मुक्ति के लिए तड़प रही है। दलित स्त्रियों की इसी पीड़ा और शोषण को 'शिकंजे के दर्द' में अभिव्यक्त किया गया है। अपने दु:ख दर्द के साथ-साथ दलितों की वेदनाओं को भी सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा का विषय बनाया है। जीवन के दुहरे, तिहरे संताप को लिपिबद्ध करते समय लेखिका ने कितनी बार आंसू बहाया है, उसकी गणना संभव नहीं है। इस आत्मकथा के महत्व को उजागर करते हुए हेमलता महीश्वर ने लिखा है - "शिकंजे का दर्द नामक सुशीला टाकभौरे की यह आत्मकथा कई मायनों में बेहद महत्वपूर्ण है। इसकी परिव्याप्ति एक व्यापक फलक पर द्रष्टव्य होती है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक और सांस्कृतिक जैसे तमाम मुद्दे इस 304 पृष्ठ के ग्रंथ में सहज ही अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं।' शिकंजे का दर्द' यानी सुशीला टाकभौरे की कहानी, उनकी अपनी जुबानी। पितृसत्तात्मकता और जातीयता, इन दो समस्याओं से उलझते और उन्हें सुलझाते हुए ही अब तक के पूरे जीवन का संघर्ष वे प्रस्तुत करती हैं।"[12] 'शिकंजे के दर्द ' में दलित स्त्रियों के जीवन की वेदनाओं एवं विसंगतियों की जीवंत झांकी मौजूद है।

श्योराज सिंह बेचैन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' दलित साहित्य लेखन के क्षेत्र में नया अध्यक्ष जोड़ती है। इसमें एक ऐसे बालक की व्यथा-कथा है जो अपनी निर्धनता, अशक्तता, बीमारी, लाचारी, छोटी उम्र एवं कथित अछूत जाति और प्रतिकूल परिस्थिति तथा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के कारण अनेक प्रकार की समस्याओं से घिरा हुआ है। फिर भी वह जीवटता के साथ जीवन संघर्षों की सभी चुनौतियों से लड़ते हुए अपने अस्तित्व, अस्मिता और शिक्षा के लिए संघर्षरत है । उसे पल-पल नई-नई समस्याओं से जूझना पड़ता है, फिर भी वह हार नहीं मानता है। दलितों को जीवनयापन हेतु तथा सामाजिक अव्यवस्था के चलते मृत पशुओं की खाल उतारने को मजबूर होना पड़ता है। इसके बदले वह अछूत एवं समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वह उपेक्षापूर्ण जीवन जीने को मजबूर होता है। किंतु वहीं मनुष्यों की लाश का पोस्टमार्टम करने वाले डॉक्टर के सम्मान में कोई कमी नहीं आती है। इस संदर्भ में बेचैन जी लिखते हैं - "एक जरूरी सेवा होने पर भी इसे करने से चमारों को जितना घृणा और तिरस्कार मिले हैं, वे गिनाए नहीं जा सकते हैं। डॉक्टर मनुष्य की लाश का पोस्टमार्टम करता है तो इज्जतदार होता है। भंगिन सफाई करती है तो दुत्कारी जाती है। चमार पशु की खाल उतारता है तो वह बहिष्कृत और अछूत बना रहता है।"[13] इसमें लेखक ने संपूर्ण दलित वर्ग की पीड़ा, वेदना, कसक, उत्पीड़न, शोषण तथा सवर्ण जाति द्वारा किये गये अत्याचारों की स्पष्ट झलक का अंकन किया है।

पूर्व राज्यपाल श्री माता प्रसाद की आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन' दलितों की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का जीवन्त उदाहरण है। जौनपुर के मछलीशहर कस्बे में एक गरीब दलित परिवार में जन्म लेने के कारण लेखक को जीवन के शुरुआती दिनों में भेदभाव, छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों से जूझना पड़ा था। इसके बावजूद दृढ़संकल्पी, परिश्रमी, लगनशील माता प्रसाद ने झोपड़ी के जीवन से लेकर राजभवन तक सफल व शानदार सफर तय किया। उनका जीवन दलित एवं बहुजन समाज हेतु विशेष कर राजनीतिक उत्थान की दृष्टि से प्रेरणादायक है।

'झोपड़ी से राजभवन' आत्मकथा को माता प्रसाद जी ने मूलतः तीन भागों में विभाजित किया है। पहले भाग में दलित जीवन के दर्द की अभिव्यक्ति है, दूसरे भाग में राजनीतिक जीवन में किए गए संघर्षो का ब्यौरा संकलित है और तीसरे भाग में राजभवन के जीवन का चित्रण पूरी संजीदगी के साथ किया गया है। अपने राजनीतिक जीवन के संघर्षों के क्रम में विधायक का चुनाव लड़ने के समय भी जाति इनका पीछा नहीं छोड़ती है। इस स्तर पर पहुंचने के बावजूद दलितों को भेदभाव एवं छुआछूत का दंश झेलना पड़ता है। माता प्रसाद जी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं - "जब मैं विधायक का चुनाव सन 1957 में लड़ रहा था, तब भी कई मौके पर खाने-पीने में भेदभाव दिखाई पड़ा। किसी सवर्ण या कांग्रेस नेता के यहां घर में खाने को होता तो वहां पर मेरे लिए दलित बस्ती से थाल-गिलास मंगाकर उसमें खिलाया जाता था।"[14]

उपसंहार-

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि दलित आत्मकथाएं भारतीय समाज में व्याप्त जातिवाद, भेदभाव, असमानता, शोषण, अन्याय-अत्याचार और इन सब के विरुद्ध संघर्ष के माध्यम से समता, स्वतंत्रता, बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना के प्रयासों

का जीवंत दस्तावेज हैं। इन आत्मकथाओं में दलित एवं वंचित वर्गों के जीवन-संघर्षों की व्यथा-कथा की झांकी पूर्ण प्रामाणिकता के साथ उपस्थित होती है। सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों के साथ-साथ इनमें धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों और गतिविधियों का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

संदर्भ–सूची:

[1]. बेचैन, श्योराज सिंह (2001). 'वंचितों के वृतांत', जनसत्ता, हिंदी-दैनिक, नई दिल्ली, पृष्ठ-5.

[2]. नैमिशराय, मोहनदास (1995). 'अपने-अपने पिंजरे' (भाग-एक), वाणी प्रकाशन, नई-दिल्ली, पृष्ठ-17.

[3]. कुमार, प्रवीण एवं रामचंद्र (2019). 'हिंदी दलित आत्मकथाए', एकेडमिक पब्लिकेशन, दिल्ली, पृष्ठ-83.

[4]. वाल्मीकि, ओमप्रकाश (2021). 'जूठन' (पहला-भाग), राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-12.

[5]. वही, पृष्ठ-15

[6]. ठाकुर, मणीन्द्रनाथ (2016). 'समाजशास्त्र के स्वरूप पर बहस और मुर्दहिया', अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ-64-65.

[7]. तुलसीराम (2019). 'मुर्दहिया', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ–55.

[8]. पांडेय, मैनेजर (2015). 'तुलसीराम की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-45.

[9]. मुरुकमर, दत्तात्रेय(2019). 'हंस':'दलित आत्मकथा-प्रतिरोध की परंपरा', अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-50.

[10]. पासवान, जयराम कुमार (2019). 'दोहरा अभिशाप में अभिव्यक्त दलित स्त्री का संघर्ष', एकेडमिक पब्लिकेशन, दिल्ली, पृष्ठ-163.

[11]. महीश्वर, हेमलता (2019). 'शिकंजे का दर्द के बहाने: बिर्रे की रोटी', एकेडमिक पब्लिकेशन, दिल्ली, पृष्ठ-66.

[12]. बेचैन, श्योराज सिंह (2009). 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-31.

[13]. प्रसाद, माता (2002). 'झोपड़ी से राजभवन', नमन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-63.

Cite this Article:

नंदराम. (2026). दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त दलितों का जीवन--संघर्ष, International Journal of Social Nexus Review.1(1), 46–51.

Journal URL: *https://socialnexusreview.com/*

Disclaimer/Publisher's Note*: The views, findings, and conclusions presented in this article are entirely the responsibility of the author(s). The publisher and editorial team are not responsible for any inaccuracies, copyright infringements, or any consequences resulting from the use or interpretation of the published content.*